श्रमण-परम्परा में क्रियोद्धार

क्रान्तिकारी वीर लोंकाशाह—भगवान महावीर की शासन परम्परा चल रही थी। किन्तु दुष्काल आदि कारणों से श्रमणधर्म में शिथिलता आ गयी। जिनपूजा और जिनभक्ति के नाम पर बड़े-बड़े आडम्बर रचे जाने लगे। श्रमणवर्ग **"सज्झायझाणरए स भिक्खू"** के आदर्श को विस्मृत होकर लोकसंग्रह में जुट गया। 'अणगार' और 'अणिकेय चारी' कहलाने वाला श्रमण चैत्यवासी और उपाश्रय-उपधिधारी बन गया। राजाओं, बादशाहों, ठाकुरों तथा श्रेष्ठियों को यंत्र-मंत्र और तंत्र का चमत्कार बताकर राजकीय सम्मान और अधिकार प्राप्त करने का पिपासु बन गया। इस प्रकार धर्मगंगा में विकृति की काफी शैवाल जम गयी जिससे उसकी धारा शुष्क और क्षीण-सी होने लगी। श्रमणवर्ग की शिथिलता विचार व चिन्तन के अभाव के कारण एक महान् क्रांति का जन्म हुआ।

क्रांतिकारी लोंकाशाह के संबंध में जैसी प्रामाणिक सामग्री चाहिए वैसी उपलब्ध नहीं होती। यह पूर्ण सत्य है कि विरोधी लेखकों के द्वारा उनके जीवन को विकृत करने का अत्यधिक प्रयास किया गया है। मुनिश्री कल्याण-विजयजी गणी के तथा मुनि कांतिसागरजी के संग्रह में मैंने ऐसी अनेक प्रतियाँ देखी थीं जिनमें उनके माता-पिता, जन्मस्थल, विचार, आदि के सम्बन्ध में विभिन्न उल्लेख हुए हैं। किन्तु यह सत्य है कि वे महान् क्रांतिकारी थे। वे केवल लिपिकार ही नहीं आगमों के मर्मज्ञ विद्वान भी थे। "लुंकाना सद्दिया अने कर्या अट्ठावन बोल, लुंकानी हुण्डी तैन्तीस बोल" नामक कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उन्हें आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, दशाश्रुतस्कंध, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, राजप्रश्नीय, अनुयोगद्वार, नन्दीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथांग की टीका, उत्तराध्ययन, औपपातिकसूत्र, जीवाभिगम, उपासकदशा, प्रश्नव्याकरण, दशवैकालिकसूत्र, प्रज्ञापना, आचारांगनिर्युक्ति और आचारांगवृत्ति, विपाक, उत्तराध्ययन चूर्णि तथा वृत्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्प वृत्ति तथा चूर्णि और निशीथ चूर्णि आदि का गंभीर ज्ञान था। उन्होंने उनके प्रमाण उपस्थित किये हैं जो उनके आगमों के गंभीर अध्ययन का स्पष्ट प्रतीक है। उन्हें आगमों का गहरा ज्ञान था और जब उन्होंने तत्कालीन साधु समाज की आगमविरुद्ध आचार-संहिता देखी तो वे चौंक पड़े। भगवान महावीर ने श्रमण के लिए जहाँ एक फूल की पंखुड़ी को भी छूने का भी निषेध किया, एक

[टिप्पण शेष पृष्ठ ८२ का]

२३ (क) ऋषिमंडल प्रकरश श्लो० २४, पृ १९३। (ख) उपदेशमाला सटीक पत्र २०८।
(ग) परिशिष्ट पर्व १२/५२/, २७४।
२४ भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति. पृ. ७३।
२५ आवश्यक निर्युक्ति ३६५ से ३७७ (ख) विशेषावश्यक भाष्य २२८४ से २२९५ तक
२६ आवश्यक निर्युक्ति ७६२. (ख) विशेषावश्यक भाष्य २२७९
२७ नंदि चूर्णि पृ. ८
२८ वीर निर्वाण संवत् और काल गणना—कल्याणविजय पृ० १०४
२९ भगवती सूत्र १०/९/, ६७७।
३० आगम अष्टोत्तरी ७१ : देवड्ढिखमासमणजा, परं परं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा॥
३१ देखिए जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा ग्रंथ लेखक—देवेन्द्र मुनि पृ.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्न के कण के संग्रह को पाप बताया, वहाँ भक्ति और अर्चना के नाम पर पुष्पों का अनर्गल ढेर लगाना कहाँ तक उचित है? पूर्ण अकिंचन वीतराग की प्रतिमा पर बहुमूल्य आभूषण सजाना सचित्त पदार्थों से उनकी अर्चना करना कहाँ तक योग्य है आदि के कारण ही लोंकाशाह ने श्रमण-यति-वर्ग के विरुद्ध क्रांति की।

'लुंकाना सद्दिया अट्टावन बोल, लुंकानी हुण्डी तैन्तीस बोल' के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उनकी क्रान्ति मर्यादाहीन तथा उग्र नहीं थी। सत्यशोधक होने पर भी उनके अन्तर्मानस में हित-बुद्धि और मृदुता थी। उन्होंने यतिवर्ग को विनम्र शब्दों में कहा—जो बुद्धिमान हैं वे मेरी बातों पर विचार करें। विवेकी लोग मेरी बातों को समझें। इस तरह विरोधियों को भी अपनी बातों पर चिन्तन करने के लिए वे प्रार्थना करते हैं और सत्य को समझने के लिए कहते हैं जिससे उनके चित्त की शान्ति का और उत्तर देने की मधुर शैली का स्पष्ट ज्ञान होता है। जहाँ परस्पर विचारों में संघर्ष की स्थिति होती है वहाँ पर कटुता आना स्वाभाविक है। किन्तु लोंकाशाह में कुछ भी कटुता नहीं आयी है। यही कारण है कुछ ही समय में एक अपूर्व प्रभाव छा जाता है, लखमसी जो पाटन का महान् धनाढ्य व्यापारी था वह लोंकाशाह का समर्थक बन जाता है और शनैः-शनैः जन-मानस में विचार-क्रान्ति की ऐसी लहर लहराने लगती है कि पुरानी परम्परा के सिंहासन डगमगाने लगते हैं। उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए लोंकाशाह के समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् कमलसंयम ने लिखा है—

"डगमगपडियं, सघलउ लोक, पोसालइ पणि आवइ थोक।
लुंकइ बात प्रकासी इसी, तेहनुं शिष्य हुउ लखमसी॥"

विज्ञों का यह मन्तव्य है कि प्रारम्भ में लोंकाशाह ने केवल श्रमणवर्ग के शिथिलाचार के विरुद्ध ही आवाज उठायी थी, पर जब वह विरोध प्रबल हो गया तो उसमें मूर्तिपूजा विरोध, वेश-परिवर्तन प्रभृति अनेक बातें सम्मिलित हो गयीं। लखमसी आदि के साथ विचार चर्चा करते हुए अनेक बातें सामने आयीं। उस पर उन्होंने चिन्तन किया और मतभेद की बातें विस्तृत होती चली गयीं।

लोंकाशाह के तेजस्वी और निष्ठावान् व्यक्तित्व से हजारों व्यक्ति प्रभावित हो रहे थे। आगम स्वाध्याय व चिन्तन से उन्होंने जो ज्योति प्राप्त की थी, उग्र विरोध होने पर भी वे भय से कतराये नहीं। किन्तु विरोध को विनोद मानकर निरन्तर आगे बढ़ते रहे। उनकी धर्म-क्रान्ति से सहस्रों व्यक्तियों को प्रकाश मिला; क्योंकि वह युग ही धर्म-क्रान्ति का युग था। यूरोप में उन दिनों पोप के विरोध में जन-मानस जागृत हो रहा था। मार्टिन लूथर (जर्मन) जैसे उग्रवादी नेता उसका संचालन कर रहे थे। भारत के विविध अंचलों में भी धर्म, समाज और राजनीति में अभिनव क्रान्ति हो रही थी। पंजाब में गुरु नानकदेव, पूर्व भारत में कबीर, और दक्षिण में नामदेव आदि के तेजस्वी स्वर गूँज रहे थे। धार्मिक आडम्बर, बाह्याचार, मूर्तिपूजा आदि के विरोध में एक विचित्र सी लहर लहरा रही थी जो जन-मानस को शुद्ध धर्म-साधना की ओर आगे बढ़ने के लिए उत्प्रेरित कर रही थी। इस तरह लोंकाशाह ही नहीं किन्तु भारत का प्रबुद्ध वर्ग भी उस धार्मिक क्रान्ति से प्रभावित था। जीवन की सान्ध्य बेला में सुकरात की तरह उन्हें भी विरोधियों ने विष दिया। किन्तु जिस महापुरुष ने जीवनभर जन-जन को अमृत बाँटा हो वह कभी विष से विचलित हो सकता है? वह सत्य-पथ पर जीवन के अन्तिम क्षण तक बढ़ता रहा। मर करके भी वह अमर हो गया। स्थानकवासी और तेरापन्थ परम्परा उस महापुरुष की सदा ऋणी रहेगी और वह प्रकाश-दीप की तरह अपने दिव्य और भव्य आलोक से आलोकित करता रहेगा।

(१) **भाणाजी**—ये सिरोही के निकट अरहटवाल-अटकवाड़ा के निवासी थे। जाति से पोरवाल थे। सं. १५३१ में उन्होंने दीक्षा ली ऐसा स्वर्गीय मोहनलाल दलीचन्द देसाई का मत है; किन्तु तपागच्छीय पट्टावलियों में दीक्षा समय १५३३ उल्लिखित है। उपाध्याय रविवर्धन ने अपनी पट्टावली में उनका दीक्षाकाल १५३८ दिया है। किन्तु उनका यह कथन विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि कुँवरजी पक्षीय केशवजी रचित लोंकाशाह शिलोके में जिसकी रचना सं. १६८८ के लगभग हुई है उसमें भी १५३३ का समर्थन होता है। ये लोंकागच्छ के आद्यमुनि थे। इनके वैयक्तिक जीवन और विहार प्रदेश आदि के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। कहा जाता है कि इन्होंने पैंतालीस व्यक्तियों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी[1] और ये दीक्षाएँ लोंकाशाह की प्रेरणा से हुई थीं। अतः उन्होंने अपने गच्छ का नाम लोकागच्छ रखा। मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने भाणाजी का स्वर्गगमन १५३७ में सूचित किया है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। कारण कि कडुवामत पट्टावली में सं. १५४० में भाणाजी से नाडोलाई गाँव में कडुवाशाह मिले थे और उनसे वार्तालाप भी हुआ था। अतः १५४० तक उनका अस्तित्व असंदिग्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) **भीदाजी**—ये सिरोही के ओसवाल थे, इनका गोत्र साथडिया था। इन्होंने सं. १५४० में अहमदाबाद में ४५ व्यक्तियों के साथ भाणाजी ऋषि के पास दीक्षा ग्रहण की। संघवी तोला आपका भाई था।

(३) **नूनाजी**—इन्होंने भीदाजी के पास सं. १५४५ या १५४६ में दीक्षा ग्रहण की थी। ये सिरोही के निवासी ओसवाल वंशीय थे।

(४) **भीमाजी**—इन्होंने १५५० में नूनाजी के पास दीक्षा ग्रहण की थी। ये पाली के निवासी लोढा गोत्रीय ओसवाल थे।

(५) **जगमालजी**—इन्होंने सं. १५५० में दीक्षा ग्रहण की और भीमाजी के पट्टधर बने। आप उत्तरार्ध वासी सुराणा गोत्रीय ओसवाल थे। मणिलालजी महाराज ने आपको नागपुरा का निवासी बताया है।

(६) **सखाजी**—इन्होंने १५५४ में दीक्षा ग्रहण की ऐसा लोंकागच्छीय बड़े पक्ष की पट्टावली से ज्ञात होता है। ये दिल्ली के निवासी थे। जाति से ओसवाल थे। स्वर्गीय मणिलालजी महाराज ने लिखा है कि आप बादशाह के वजीर थे। जब आप श्रमण बनने के लिए उद्यत हुए तब बादशाह ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—तुम श्रमण क्यों बनते हो? उत्तर में आपने कहा कि—इस विराट विश्व में जो भी जन्म लेता है वह एक दिन अवश्य ही मरता है, किन्तु मैं ऐसा मरण चाहता हूँ कि जिसमें पुनः-पुनः मरना न पड़े। बादशाह के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने दीक्षा ली, बहुत वर्षों तक संयम की आराधना की और कहा जाता है कि एक माह के संथारे के पश्चात् आपका स्वर्गवास हुआ।

(७) **रूपजी**—ये अणहिलपुर पाटन के निवासी थे। ओसवाल वेद गोत्रीय पिता देवा, माता मिरधाई, और जन्म संवत् १५४३। १५६८ माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन स्वयमेव दीक्षा ग्रहण की। लोंकागच्छ की बड़े पक्ष की पट्टावली में यह उल्लेख है कि रूपाशाह ने शत्रुंजय का संघ निकाला था, किन्तु बाद में सखाजी का अहमदाबाद में प्रवचन सुनकर ५०० व्यक्तियों के साथ प्रव्रजित हुए।[३] और सखाजी के पट्टधर हुए। इन्होंने पाटनगच्छ गुजराती लोंकागच्छ की स्थापना की। इनके समय में हीरागुरु नामक यतिप्रवर ने नागोरी लोंकागच्छ की स्थापना की। इसी समय उत्तरार्द्ध लोहारी लोंकागच्छ स्थापित हुआ। उसके सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। तथापि विज्ञों का मानना है कि जीवाजी महाराज की परम्परा के किसी सन्त ने इसकी स्थापना की थी। उत्तरार्द्ध गच्छानुयायी सखाजी के शिष्य अर्जुन के शिष्य दुर्गादास ने सं. १६२५ में खंदक चौपाई की रचना की थी।[४]

(८) **जीवाजी**—ये सूरत के देश-लहरा गोत्रीय तेजपाल की पत्नी कपूरा बाई के पुत्र थे। जन्म सं. १५५०। दीक्षा सं. १५७८ माघ शुक्ला दूज गुरुवार[५]। 'रूपऋषि भास' में लेखक ने जीवराजजी का दीक्षा संवत् १५७८ सूचित किया है। 'जीवराजजी भास' में वही कवि सं. १५६८ सूचित करता है। जबकि १५६८ में स्वयं रूपजी दीक्षा स्वीकार करते हैं। कहा जाता है कि दीक्षा ग्रहण करते समय आपकी उम्र लगभग २८ वर्ष की थी। संवत् १६१२ वैशाख शुक्ला छठ को बड़े वरसिंघजी को पद पर स्थापित किया था तथा स्वयं १६१३ ज्येष्ठ शुक्ला छठ सोमवार को पाँच दिन का अनशन लेकर ६३ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए थे। इन्हीं के नाम से गुजराती लोंकागच्छ प्रसिद्ध हुआ था।

जीवाजी ऋषि के अनेक शिष्य थे। उनमें से सं. १६१३ में वीरसिंह जी ऋषि को बड़ोदा में आचार्य पद प्रदान किया गया और दूसरी ओर बालापुर में कुँवरजी ऋषि को आचार्य पद दिया गया जिससे गुजराती लोंकागच्छ दो भागों में विभक्त हो गया। प्रथम पक्ष मोटीपक्ष और द्वितीय पक्ष न्हानीपक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनकी पट्टावली इस प्रकार है—

मोटीपक्ष की पट्टावली

९. वरसिंघजी ऋषि बड़े
१०. लघुवरसिंघजी
११. जसवन्त ऋषि जी
१२. रूपसिंह जी ऋषि
१३. दामोदरजी ऋषि
१४. कर्मसिंहजी ऋषि
१५. केशवजी ऋषि
१६. तेजसिंहजी ऋषि
१७. कानजी ऋषि
१८. तुलसीदासजी ऋषि
१९. जगरूपजी ऋषि
२०. जगजीवनजी ऋषि
२१. मेघराजजी ऋषि
२२. सोमचन्द्रजी ऋषि
२३. हरखचन्द्रजी ऋषि
२४. जयचन्द्रजी ऋषि
२५. कल्याणचन्द्रजी ऋषि
२६. खूबचन्द सूरीश्वर
२७. न्यायचन्द्र सूरीश्वर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ढूंढानीपक्ष की पट्टावली

९. कुँवरजी ऋषि	१६. श्री भागचन्द्रजी ऋषि
१०. श्रीमल्लजी ऋषि	१७. श्री बालचन्द्रजी ऋषि
११. श्री रत्नसिंहजी ऋषि	१८. श्री माणकचन्द्रजी ऋषि
१२. केशवजी ऋषि	१९. श्री मूलचन्द्रजी ऋषि (१८७६)
१३. श्री शिवजी ऋषि	२०. श्री जगतचन्द्रजी ऋषि
१४. श्री संघराजजी ऋषि	२१. श्री रत्नचन्द्रजी ऋषि
१५. सुखमल्लजी ऋषि	२२. श्री नृपचन्द्रजी ऋषि

(ये अन्तिम गादीधर थे, आगे गादीधर नहीं हुए)

जीवराजजी महाराज—यह हम पूर्व बता चुके हैं कि लोंकागच्छ में भी शिथिलता प्रारम्भ हो गयी। जिस उद्देश्य से लोंकाशाह ने क्रान्ति का बिगुल बजाया था, उसका स्वर मन्द हो गया। आचार-विचार की शिथिलता के कारण पुनः नव जागृति लाने के लिए सर्वप्रथम वि. सं. १६६६ में जीवराजजी महाराज ने क्रियोद्धार किया। जीवराजजी महाराज के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। कितने ही विज्ञ उनकी जन्मस्थली सूरत मानते हैं और माता का नाम केसर बहिन और पिता का नाम वीरजी मानते हैं। किन्तु पूर्ण सत्य-तथ्य क्या है यह प्राचीन साक्षी के अभाव में कहना कठिन है तथापि यह सत्य है कि वे गृहस्थाश्रम में किसी विशिष्ट परिवार के सदस्य रहे होंगे। क्योंकि उनकी प्रतिभा की तेजस्विता उनके कृतित्व से झलकती है। यह भी माना जाता है कि उनका पाणिग्रहण एक सुरूपा बाला के साथ सम्पन्न हुआ था, किन्तु उनका मन गृहस्थाश्रम में न लग सका। वे भोग से योग को श्रेष्ठ समझते थे। अतः वे लोंकागच्छ के यति जो बहुत ही प्रसिद्ध ज्योतिर्विद थे, उनकी सेवा में वे पीपाड पहुँचे। यतिप्रवर के प्रभावपूर्ण प्रवचनों से वे अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्हें लगा कि वस्तुतः संसार असार है, यह मानव का जीवन बहुत ही अनमोल है। विषय-वासना के दलदल में फँसकर यह जीवन कूकर और शूकर की तरह बरबाद करने के लिए नहीं है। इस जीवन को आबाद करने के लिए मुझे साधना के पथ पर बढ़ना चाहिए। अतः सं. १६५४ में यतिदीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के पश्चात् शिक्षा प्रारम्भ हुई। आगमों के गम्भीर रहस्य ज्यों-ज्यों पढ़ते गये त्यों-त्यों ज्ञात होते गये। उन्हें अनुभव हुआ कि आगमों में जो श्रमण जीवन की आचार-संहिता बतायी गयी है आज वह यतिवर्ग में दिखायी नहीं दे रही है। यह प्रवृत्ति आत्मवंचना है। अतः इसमें सुधार अपेक्षित है। उन्होंने सर्वप्रथम अपने गुरुजी से नम्र निवेदन किया कि आज हम किधर जा रहे हैं, धर्म के नाम पर मिथ्याडम्बरों में उलझे हुए हैं। अतः इसमें सुधार अपेक्षित है। किन्तु यतिजी गद्दी के मोह को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। वे सत्य पर आवरण डालना चाहते थे; किन्तु डाल नहीं सके। कुछ समय तक जीवराजजी यह प्रतीक्षा करते रहे कि अवश्य ही सुधार होगा। किन्तु जब उन्होंने देखा कि गुरुजी सत्ता व सम्पत्ति के मोह को नहीं छोड़ सकते हैं, तो वे वि. सं. १६६६ में अपने गुरुजी से पृथक् हो गये और उन्होंने अपने साथी अमीपालजी, महीपालजी, हीरोजी, गिरिधरजी और हरजी इन पाँच व्यक्तियों ने साथ लाल भाटा के उपाश्रय का परित्याग कर पीपाड के बाहर वट वृक्ष के नीचे बैठकर अपने अतीत के जीवन की आलोचना की। अरिहन्त, सिद्ध की साक्षी से पंच महाव्रतों को ग्रहण किया। स्थानकवासी परम्परा के ये ही सर्वप्रथम क्रियोद्धारक हैं। यतिवर्ग ने जब देखा कि इनके तपः-तेज से जनमानस इनके प्रति आकर्षित हो रहा है तो उन्होंने उग्र विरोध करना प्रारम्भ किया, किन्तु विरोध के बावजूद भी आपका प्रभाव दूज के चाँद की तरह बढ़ता रहा। आपने सर्वप्रथम ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद और एक आवश्यक इन बत्तीस आगमों को प्रमाणभूत माना। साथ ही मुखवस्त्रिका को सदा मुख पर रखना आवश्यक समझा। मुखवस्त्रिका हाथ में रखने से प्रमादजन्य अनेक दोष लगने की सम्भावना है। अतः साधक को मुखवस्त्रिका मुख पर बाँधना आवश्यक है। मुखवस्त्रिका के साथ ही जीवों की रक्षा के लिए रजोहरण रखना भी आवश्यक माना। श्रमण जीवन की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता के लिए श्रमण सामाचारी का भी निर्माण किया।

जीवराजजी महाराज के साथ जिन पाँच यतिप्रवरों ने क्रियोद्धार में सहयोग दिया था वे भी कष्टों को सहन करते हुए अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे बढ़ते रहे। इन छः साधकों में जीवराजजी महाराज का शिष्य परिवार अधिक विस्तृत था। वर्तमान में भी अनेक सम्प्रदाय आपको अपना मूलपुरुष मानते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवराजजी महाराज श्रेष्ठ वक्ता के साथ ही सुयोग्य कवि भी थे। यद्यपि उन्होंने किसी बृहदाकार कृति का सर्जन नहीं किया तथापि भक्तिमूलक चौबीसी की रचना की जिसमें स्तुतियों की प्रधानता है, जीवन के विविध अनुभवों का संचय है।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज के पास जीवराजजी महाराज के पद्यों का संग्रह है जो बहुत ही जीर्ण-शीर्ण और खण्डित स्थिति में है। कई स्थानों पर अक्षर चले भी गये हैं। पत्र का व्यास आठ अंगुल और आयाम १२ अंगुल हैं। २६ से ३६ और १६ से पहले के पन्ने नहीं हैं। ४५वें पन्ने में चौबीसी पूर्ण होती है। लेखन-काल और लेखक का परिचय अन्त में नहीं दिया गया है, पर ऐसा लगता है कि यह रचना कुछ समय के पश्चात् ही किसी ने लिखी है।

इस चौबीसी की रचना जीवराजजी महाराज ने की है और अपने आपको सोमजी का शिष्य बताया है। कुछ पद्यों के प्रान्त में रचनाकाल और स्थल का भी निर्देश किया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत रचना क्रमशः न कर जब भी कवि के अन्तर्मानस में भावलहरियाँ उद्बुद्ध हुईं तब उसने स्तुतियाँ निर्माण की हैं। इसके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कवि को प्रारम्भ में चौबीसी लिखने का विचार नहीं होगा। कुछ स्तवन बनाने के पश्चात् अवशिष्ट तीर्थंकरों के स्तवन उसमें सम्मिलित करके चौबीसी का रूप दिया होगा। यही कारण है कि भगवान महावीर की स्तुति १६७५ अषाढ़ सुदी १० को जेतपुर में की। एक वर्ष पश्चात् १६७६ के श्रावण सुदी ५ को बाबेल चातुर्मास में आदिनाथ की स्तुति की। फिर वर्षभर बाद सं० १६७७ भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को बालापुर में चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की स्तुति की। बीच के अन्य तीर्थंकरों की स्तुति सं० १६७६ विजयदशमी को बहादुरपुर में १७वें तीर्थंकर की स्तुति की है।

इस प्रकार प्रस्तुत चौबीसी स्तुति के पद विभिन्न क्षेत्रों में पाँच वर्ष के दीर्घ काल में पूर्ण किये गये हैं। इस चौबीसी की यह विशेषता है कि एक स्तवन कई ढालों में बनाया गया है जैसे ऋषभदेव का स्तवन ७५ गाथाओं में है। सर्वत्र तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन किया गया है। आपने "ऋषि सोमजी का शिष्य जीवराज बोले दया तणा फल दाखिए" इसमें स्पष्ट रूप से अपने को सोमजी का शिष्य बताया है। आपका संयमकाल सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध सुनिश्चित है। पर प्रश्न है कि सोमजी किनके शिष्य थे और आपके पास उन्होंने कब प्रव्रज्या ग्रहण की थी, यह अन्वेषणीय है। चौबीसी के पश्चात् दो-तीन पन्नों में मारवाड़ी अक्षरों में सोमजीकृत बारहमासा है, पर इससे भी यह ज्ञात नहीं होता कि ये सोमजी कौन थे और किसकी परम्परा के थे। सोलहवीं शती के ऋषि जीवाजी के पश्चात् सत्रहवीं शती में ऋषि जीवराजजी हुए हैं और सम्भव है यही क्रियोद्धारक जीवराज महाराज हों।

उनकी कृतियों से यह भी ज्ञात होता है कि उनका विहार क्षेत्र कौनसा प्रदेश रहा था। जिन पदों में उनका रचनाकाल दिया गया है उनका ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व होने के कारण कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

संवत् सोल छिहोत्तरा बरषे श्रावण सुदि पंचमी सार ए।
वावेल चौमासि मन उल्लासि कर्यूं स्तवन रविवार ए।
जे भावे भणसईं नित्य श्रुणसइं सिद्ध थाय तस काज ए।
कर जोडी हरष कोडी गुण जंपै ऋषि जीवराज ए॥

—आदिनाथस्तवन का अंतिम भाग

संवत सोल पंचोत्तरा वरषे आषाढ़ सुद दसमी सार ए।
शुक्रवारे तवन रच्युं जेतपुर नगर मझार ए।
ऋषि सोमजी सदा सोभागी जेहनो जस अपार ए।
तास सेवक ऋषि जीवराज जंपै सकल संघ जयकार ए॥

—वीरस्तवन—अन्त भाग

संवत् सोल सित्योत्तरा भाद्रवा सुदि आठम सार ए।
मंगलवारे तवन कीधुं बालापुर मझार ए।
गल्ल भाव आणी भगति जाणी, तवन भणई जे एकमना।
कर जोडी जीवराज बोलइ काज सरसइ तेहना॥

—चन्द्रप्रभुस्तवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्तमो जिनवर उदय दिनकर सोभागी महिमा निलो।
भगति वच्छल विरद जेहनें धन्य स्वामी त्रिभुवन तिलो॥
संवत सोल उगणासी बरषे विजयदशमी सोमवार ए।
बाहादरपुर मांहे तवन कीधुं भणतां सुणतां जयकार ए॥
सुबुद्धि आणी सहज वाणी जिन तणां गुण भाषी ए।
ऋषि सोमजी चा सीस जीवराज बोले दया तणां फल दाखी ए॥

—सप्तजिनस्तवन॥

कहा जाता है कि जीवराजजी महाराज ने अत्यधिक धर्म प्रचार किया। जीवन की सान्ध्यबेला में समाधि-भाव में अवस्थित रहने से उन्हें विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि हुई जिससे उन्होंने अपना अन्तिम समय सन्निकट समझकर ससंथारा आयु पूर्ण किया।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जीवराजजी महाराज ने नया धर्म स्थापित नहीं किया, किन्तु पुरातन परम्परा में जो आचार-शैथिल्य हो चुका था उसका उचित संशोधन किया। शिथिलाचार के स्थान पर शुद्धाचार की संस्थापना की। श्रमण-जीवन में जो आडम्बरप्रियता, और जड़ता आ चुकी थी उसे दूर कर शुद्ध साधुचर्या का पथ प्रशस्त किया। प्रस्तुत क्रियोद्धार में किसी भी प्रकार का मनोमालिन्य व रागद्वेष की भावना नहीं थी; किन्तु विशुद्ध धर्म की पुनर्जागरणा थी।

स्थानकवासी परम्परा एक विशुद्ध आध्यात्मिक परम्परा है। उसका किसी भी जड़-पूजा में विश्वास नहीं है। किन्तु विशुद्ध चैतन्यतत्त्व की उपासना और साधना का ही संलक्ष्य है। वह बाह्य आडम्बर, विवेकशून्य क्रियाकाण्ड में विश्वास नहीं करती। उसका मन्तव्य है कि धर्म का आधार भौतिक नहीं, मानव की आन्तरिक आध्यात्मिक भावना है। त्याग, तप, संयम स्थानकवासी परम्परा के मूल स्वर रहे हैं जिसके कारण यह परम्परा शतशाखी की भाँति दिन-प्रतिदिन अभिवृद्धि को प्राप्त होती गयी।

जीवराजजी महाराज के पश्चात् लवजी ऋषि जी म०, धर्मसिंह जी म०, धर्मदास जी म०, श्री हरजी ऋषि जो महाराज आदि चार महापुरुषों ने भी क्रियोद्धार कर अभिनव जागृति का संचार किया। इन्हीं पाँचों क्रियोद्धारकों की परम्परा ही आज स्थानकवासी परम्परा के रूप में है। जीवराजजी म० के प्रधान शिष्य लालचन्दजी महाराज थे। उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में भी इतिहास मौन है। किन्तु वे एक महान प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उनके अनेक शिष्य थे जिनके नामों से पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय हैं। विस्तार भय से मैं उन सभी की चर्चा यहाँ नहीं कर रहा हूँ। मैं यहाँ केवल जीवराजजी महाराज के शिष्य लालचन्दजी महाराज, आ० तुलसीदासजी महाराज, आ० सुजानमलजी म०, आ० जीतमलजी म०, आ० ज्ञानमलजी म०, आ० पूनमचन्दजी म०, आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी म०, महास्थविर ताराचन्द जी म०, उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज का परिचय अगले अध्याय में दे रहा हूँ।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ "तन्मध्ये वेषधरास्तु वि. त्रयस्त्रिंशदधिकशशत १५३३ वर्षे जाता तत्र प्रथमो वेषधारी भाणाख्योऽभूतदिति।"

—**पट्टावली समुच्चय,** पृष्ठ ६७

"तद्वेषधरास्तु सं. १५३८ वर्षे जाताः, तत्र प्रथमो वेषधारी ऋषि भाणाख्योऽभूदिति।"

—**पट्टावली समुच्चय,** पृष्ठ १५७

"शत पन्नर तेत्रीसनी सालइ, भाणजी ने दीक्ख आलइ।" —**जैनगुर्जरक विओ,** भाग ३, पृष्ठ १०९४

२ मुनि श्रीहजारीमल स्मृति ग्रन्थ, प्र. अ., पृष्ठ २१६।

३ देखिए रूपऋषि भास।

४ देखिए जैन गुर्जर कविओ, भाग तीसरा, पृष्ठ ७४०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org